कर्म : बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रियाएँ

☆ मुनिश्री समदर्शीजी 'प्रभाकर'

जीव और पुद्गल—दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं। आत्मा के साथ पुद्गल (कर्म) का संयोग-सम्बन्ध होना बन्ध है, और उसका वियोग हो जाना, कर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाना, मोक्ष है। श्रमण भगवान महावीर के समय में यह प्रश्न भी दार्शनिकों, विचारकों और धर्म-संस्थापकों (आचार्यों) के समक्ष चर्चा का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। कुछ विचारक ऐसा मानते थे कि 'पुरुष (आत्मा) सत्त्व, रजो और तमो—तीनों गुणों से रहित है और विभु (व्यापक) है। इसलिए उसे पुण्य-पाप का बन्ध नहीं होता। वह कर्म का बन्ध ही नहीं करता और उससे न तो स्वयं मुक्त होता है और न कर्म को अपने से मुक्त करता है, वह तो अकर्त्ता है। वह बाह्य या आभ्यन्तर कुछ नहीं जानता, क्योंकि ज्ञान पुरुष का नहीं, प्रकृति का स्वभाव है।'

इस तरह के चिन्तन से तीन प्रश्न उठते थे, कि यदि जीव के साथ कर्म का संयोग होना यही बन्ध माना जाए, तो वह बन्ध सादि है, या अनादि? यदि बन्ध सादि है, तो पहले जीव और तदनन्तर कर्म उत्पन्न हुआ? या पहले कर्म उसके बाद जीव का उद्भव हुआ? या दोनों का युगपत जन्म हुआ?[1] जीव कर्म से पूर्व तो उत्पन्न नहीं हो सकता। बिना कर्म के उसकी उत्पत्ति निर्हेतुक होगी और तद्रूप उसका विनाश भी निर्हेतुक हो जाएगा। यदि जीव अनादि से है, तो उसका कर्म के साथ संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। यदि बिना कारण ही जीव-कर्म का संयोग होता हो, तो मुक्त जीव भी पुनः बद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार जब बन्ध ही नहीं होता, तो मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो सदा मुक्त ही है।

दूसरी बात यह है कि जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति नहीं मान सकते। क्योंकि जीव कर्म का कर्ता है। बिना कर्ता के उसकी उत्पत्ति निर्हेतुक होगी, तो विनाश भी निर्हेतुक हो जाएगा। यदि दोनों को युगपत मानें तब भी उनमें कर्तापन और कार्यरूपता घट नहीं सकती। युगपत उत्पन्न होने वाले पदार्थों में जैसे गाय और गाय के सींग—दोनों में गाय सींग की कर्ता नहीं है और सींग गाय के कार्य नहीं हैं, उसी प्रकार जीव-कर्म भी परस्पर कर्ता और कार्य नहीं हो सकते। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध मानना भी उपयुक्त नहीं है। जो अनादि सम्बन्ध है, वह अनन्त भी होगा और जो अनन्त है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता। फिर जीव कभी भी कर्म-बन्ध से मुक्त ही नहीं होगा। इसलिए इस संसार में जीव को न तो कर्म का बन्ध होता है और न वह उस बन्धन से मुक्त होता है। बन्धन ही नहीं है, तब मुक्ति कैसी?

बन्ध-मोक्ष का स्वरूप

कर्म से आत्मा का आबद्ध होना और आबद्ध कर्मों से मुक्त होना—बन्ध और मोक्ष तत्त्व हैं। इस सम्बन्ध में आगम-युग एवं दार्शनिक-युग में विचारकों में विचार-भेद रहा है। चार्वाक-दर्शन के अतिरिक्त सभी दार्शनिक बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु अन्तर है—बन्ध और मोक्ष किसका होता है, इस मान्यता में। कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि आत्मा त्रि-गुणातीत है, विभु (व्यापक) है, शुद्ध है, अकर्त्ता है, इसलिए पुरुष (आत्मा) को बन्ध नहीं होता।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, १८०५-६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध प्रकृति को होता है, और वही उससे मुक्त होती है। आत्मा कर्म-बन्ध से अलिप्त है। सांख्य-दर्शन की दृष्टि से पुरुष (आत्मा) कर्ता नहीं है, कर्म का कर्त्ता है—प्रकृति। कुछ विचारक केवल एक ही तत्त्व को मूल-तत्त्व मानते हैं और वह है—ब्रह्म। उनके विचार से ब्रह्म ही सत्य है, उसके अतिरिक्त जगत्—जो प्रत्यक्ष में परिलक्षित होता है, मिथ्या है। हम जो कुछ देखते हैं, वह सब भ्रम है, विवर्त है, माया है। यह संसार मायारूप है, यथार्थ नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ तब तक ही यह माया रूप संसार है। ब्रह्मज्ञान होते ही जीव, जीव नहीं रह जाएगा, वह ब्रह्म में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार अद्वैतवाद के संस्थापक आचार्य शंकर के विचार से ब्रह्म के अतिरिक्त कर्म, कर्म-बन्धन और उसका विपाक सब मिथ्या है, भ्रम है और माया है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन द्वैतवाद को मानते हैं, शुभाशुभ कर्म को एवं उसके विपाक (फल) को भी मानते हैं। परन्तु उनके विचार से आत्मा का शुद्ध स्वरूप जड़-सा है। वे आत्मा में ज्ञान-चेतना मानते अवश्य हैं, परन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं, बाहर से आगत गुण है। जब तक ज्ञान रहता है, तभी तक सारे संघर्ष, जन्म-मरण, दुःख-सुख हैं। इसलिए ज्ञान से मुक्त होना ही मुक्ति है। उनके विचार से मुक्ति या मोक्ष में ज्ञान-चेतना नहीं रहती। ज्ञान-चेतना का अभाव यही तो जड़ता है। जहाँ व्यक्ति की अनन्त-चेतना-शक्ति जाग्रत होने के स्थान में नष्ट हो जाती है, ऐसी मुक्ति कौन चाहेगा ?

बौद्ध-दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है—'**सर्वं अनित्यं, सर्वं क्षणिकं**'—यह उसका मूल सूत्र है। जिस क्षण जो आत्म-चेतना कर्म करती है, बन्ध से आबद्ध होती है, दूसरे क्षण वह नहीं, उसकी सन्तति दूसरी आत्मा जन्म ले लेगी। इस तरह कोई भी वस्तु नित्य नहीं है, जो कुछ दिखाई देता है, वह उसकी सन्तति है। इसलिए कर्म करने वाला आत्मा एक है, और उसके विपाक का वेदन करने वाला दूसरा। यह कभी सम्भव ही नहीं होता कि कर्म करे कोई और उसका फल भोगे दूसरा।

जैन-दृष्टि से बन्ध-मोक्ष

जैन-दर्शन का इस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र एवं मौलिक-चिन्तन है और कर्मदर्शन (Karma-Philosophy) के सम्बन्ध में उसने वैज्ञानिक (Scientific) एवं मनोवैज्ञानिक (Psychological) पद्धति से विचार किया है। सर्वप्रथम यह दृष्टि पूर्णतः गलत है कि आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है, जबकि वह फल का भोक्ता अवश्य है। यह अनुभवगम्य सत्य है कि जो कर्म करता है, वही फल का उपभोग करता है। कर्म अन्य करे और उसका फल वह न भोगकर कोई दूसरा ही भोगे, ऐसा कदापि हो नहीं सकता। दूसरी बात, जो कुछ दिखाई दे रहा है और प्रत्यक्ष है, उसे मिथ्या एवं भ्रान्ति कहना, यह भी सत्य को झुटलाना है। एक ओर यह कहना कि सृष्टि में मूल तत्त्व एक ही है, वह मूल तत्त्व ब्रह्म ही सत्य है, जगत् एकान्ततः मिथ्या है। जब तत्त्व केवल ब्रह्म ही है, तब सृष्टि—यह दूसरा तत्त्व आया कहाँ से। संसार माया एवं अविद्या के कारण है। जैन-दर्शन भी यह मानता है कि कर्म-बन्ध का कारण अज्ञान (अविद्या), राग-द्वेष (मोह-माया) है, परन्तु वह ब्रह्म से भिन्न है। भले ही उसे माया कहें या कर्म-बन्ध कहें—चेतन (ब्रह्म) से भिन्न दूसरा जड़-तत्त्व, जिसे जैन-दर्शन पुद्गल कहता है, है अवश्य। द्वैत-भाव अर्थात् दो मूल तत्त्वों को माने बिना संसार का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। तीसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा का स्वभाव है। जैन-दर्शन की दृष्टि से आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान के अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं है। ज्ञानमय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के स्व-स्वरूप पर श्रद्धा होना, स्व-स्वरूप को जानना और स्व-स्वरूप में स्थिर होना ही क्रमशः सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है और इसकी समन्वित-साधना की पूर्णता ही मुक्ति है। इसलिए ज्ञान आत्मा का आगत गुण नहीं, निज गुण है और वह मुक्त-अवस्था में भी रहता है। संसार में परेशानी एवं संसार-परिभ्रमण का कारण ज्ञान नहीं, ज्ञान की अशुद्ध-पर्याय अज्ञान है। राग-द्वेष एवं मोह के कारण यह अशुद्ध पर्याय होती है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की अशुद्ध या असम्यक्-पर्याय का क्षय कर देना ही मोक्ष है। चौथी बात यह है कि सभी पदार्थ एक अपेक्षा से क्षणिक भी हैं, परन्तु वे सर्वथा क्षणिक नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय परिवर्तित होती है, परन्तु पदार्थ का द्रव्यत्व कभी नष्ट नहीं होता, वह सदा बना रहता है। स्वर्ण का आकार बदल सकता है। स्वर्ण के कंगन को तोड़कर उसका हार बना सकते हैं। कंगन का हार बनाने में आकार बदल गया, परन्तु स्वर्ण-द्रव्य, जो कंगन में था, वह हार में भी है, वह नहीं बदला। इसलिए इतना सत्य अवश्य है कि सभी पदार्थ अनित्य भी हैं, क्षणिक भी हैं, परन्तु एकान्तरूप से अनित्य ही नहीं हैं। इस प्रकार सापेक्ष-दृष्टि से विचार करें, तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ सकते हैं। सापेक्ष-दृष्टि जिसे जैन-दर्शन में अनेकान्त एवं स्याद्वाद कहते हैं, वस्तु के स्वरूप को समझने-जानने एवं परखने की एक वैज्ञानिक दृष्टि एवं पद्धति है। इस विश्व का कोई भी पदार्थ न एकान्तरूप से नित्य है, न एकान्तरूप से अनित्य है, प्रत्युत वह नित्यानित्य है।

जैन-दर्शन एवं आगम-साहित्य में यह माना गया है कि आत्मा शुभ और अशुभ कर्म का कर्त्ता है और उसके शुभ और अशुभ अथवा सुख-दुःख रूप अनुकूल एवं प्रतिकूल फल का भोक्ता या संवेदक भी है।[२] भगवती सूत्र में गणधर गौतम के पूछने पर कि भगवन्! आत्मा स्वकृत कर्म का फल भोगता है, परकृत कर्म का या उभयकृत कर्म का फल भोगता है? इसके उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम! संसार में परिभ्रमणशील प्रत्येक आत्मा स्व-कृत कर्म-फल का ही भोग करता है। कोई भी व्यक्ति न तो पर-कृत कर्म-फल का वेदन करता है, और न उभय-कृत कर्म-फल का।[३] इससे स्पष्ट होता है, कि कर्म है, कर्म का बन्ध होता है, आबद्ध कर्म के फल का संवेदन होता है अथवा कर्म-फल मिलता है, और आबद्ध-कर्म का भोग करके या निर्जरा करके आत्मा कर्म-बन्धन से एकदेश से और सम्पूर्ण रूप से मुक्त भी होता है। क्योंकि जब तक अपने कृत-कर्मों की निर्जरा (क्षय) नहीं करता, तब तक आत्मा उनसे मुक्त नहीं हो सकता। कर्मक्षय का यह अर्थ नहीं है कि वह कर्म-पुद्गलों के अस्तित्व को ही मिटा देता है। पुद्गल द्रव्यरूप से नित्य हैं, वे सदा से रहे हैं और सदा-सर्वदा रहेंगे। यहाँ क्षय करने का अर्थ इतना ही है कि उनका आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं रहता। आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाने के बाद वे कर्म नहीं, पुद्गल कहे जाते हैं।

निश्चय-दृष्टि

आत्म-स्वरूप की दृष्टि से आत्मा शुद्ध है। उसमें अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-चारित्र और अनन्त-वीर्य (शक्ति) विद्यमान है। अपने शुद्ध-स्वरूप को भूलकर पर-स्वरूप या पर-भाव में परिणत होने के कारण ही वह कर्म से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करता है। वह न तो पर-

---

२ उत्तराध्ययन सूत्र, २०, ३७

३ भगवती सूत्र १, ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव का अथवा पर-पदार्थ का कर्त्ता है, और न भोक्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को जो उसके स्वभाव से भिन्न है, पर है, प्रभावित नहीं कर सकता। उसका परिणमन पर-द्रव्य में नहीं, स्व-द्रव्य में अथवा स्वभाव में ही होता है। यह भेद-ज्ञान हो जाना कि मैं पर-द्रव्य (पुद्गल) से सर्वथा भिन्न हूँ, वह न मेरा था, न मेरा है और न मेरा रहेगा। न पुद्गल के संयोग से मेरे स्वभाव एवं स्वरूप में (आत्म-प्रदेशों में) अभिवृद्धि होती है और न उसके वियोग से स्व-स्वरूप में किसी तरह की क्षति होती है। अतः स्व के द्वारा स्व-स्वरूप का बोध हो जाना, परिज्ञान हो जाना अथवा अपने से अपने आप को जान लेना सम्यक्-ज्ञान है, स्व द्वारा ज्ञात स्व-स्वरूप पर श्रद्धा-निष्ठा एवं विश्वास रखना सम्यक्दर्शन है, और पर-भाव एवं पर-स्वरूप से अपने आप को हटाकर अपने स्वरूप में स्थित रहना ही सम्यक्-चारित्र है। निश्चय-दृष्टि से सम्यक्-चारित्र का अर्थ किसी भी तरह की बाह्य क्रिया को करना नहीं, प्रत्युत अपने परिणामों को समस्त पर भावों से हटा लेना और स्व-भाव में स्थित हो जाना है। क्रिया का सम्बन्ध योग से है। योग आत्मा से भिन्न पौद्गलिक है। इसलिए योग से संबद्ध क्रिया बन्ध का हेतु आस्रव है, निर्जरा एवं मोक्ष का हेतु संवर कैसे हो सकती है? क्रिया ही चारित्र है, यह दृष्टि रहने से अनुकूल क्रिया पर राग होगा और प्रतिकूल क्रिया पर द्वेष। राग-द्वेष स्वभाव नहीं, विभाव हैं। इसलिए राग-द्वेषात्मक वैभाविक परिणति योग आस्रव से आगत कर्म-पुद्गलों के बन्ध का कारण है। निर्जरा का कारण है—राग-द्वेष से रहित वीतरागभाव। वीतराग भाव का अभिप्राय है—वीतराग की दृष्टि क्रिया पर नहीं, स्वभाव में रहती है। वह अपने आप को बाह्य-क्रियाओं का कर्त्ता एवं भोक्ता नहीं, केवल द्रष्टा समझती है। वीतराग क्रिया करता नहीं, वह तो योग का स्वभाव होने से जब तक योग का आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध रहता है, तब तक होती है। इसलिए बाह्य क्रिया में परिणत होना सम्यक्-चारित्र नहीं है, सम्यक्-चारित्र है—स्व-स्वभाव में परिणत होना।

व्यवहार-दृष्टि

आत्मा और कर्म का संयोग-सम्बन्ध होने के कारण होने वाली वैभाविक परिणति से कर्म का बन्ध होता है और उसका वह साता-असाता के रूप में वेदन भी करता है। वह यह जानता है कि कर्म एवं नोकर्म उसके अपने नहीं हैं। आत्मा मन, वचन एवं काय—तीनों योगों से, जो पौद्गलिक हैं, सर्वथा भिन्न है। उसका स्वरूप एवं स्वभाव भी योगों से सर्वथा भिन्न है। राग-द्वेष भी उसके अपने शुद्ध-भाव नहीं, विभाव हैं, अशुद्ध भाव हैं। राग-द्वेषात्मक परिणति भाव एवं परिणामों की अशुद्ध-पर्याय है, विभावपर्याय है। परन्तु है वह जीव की ही परिणति अजीव की नहीं। क्योंकि अजीव में, पुद्गल में, जड़-पदार्थों में राग-द्वेष हैं ही नहीं। उनमें चेतना का अभाव है, न ज्ञानचेतना है, न कर्मचेतना है और न कर्मफलचेतना है। ये तीनों चेतना आत्मा की ही हैं। कर्म एवं कर्म-फल चेतना अशुद्ध-भाव हैं और ज्ञान चेतना शुद्ध-भाव है। राग-द्वेष एवं कर्म या कर्म-फल चेतना में परिणत आत्मा ही योगों में होने वाले स्पन्दन से आगत कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों से आबद्ध होता है, इसी को आगम में बन्ध कहा है। राग-द्वेष शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं, इसी कारण शुभ और अशुभ आस्रव से आने वाले शुभ और अशुभ कर्मों का या पुण्य-पाप का बन्ध होता है। राग-द्वेषात्मक भाव या परिणाम आत्मा के हैं। इस अपेक्षा से आगम में यह कहा गया है कि आत्मा शुभ और अशुभ कर्म का कर्त्ता है। वीतरागभाव आत्मा का स्व-भाव है। जब, जिस क्षण आत्मा की परिणति वीतरागभाव में होती है, तब वह नये कर्मों का बन्ध नहीं करता है और आबद्ध कर्मों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा करता है। इसलिए वह स्वयं कर्म का कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है और स्वयं ही उनसे मुक्त भी होता है।

जीव : कर्म का कर्त्ता-भोक्ता भी है

सांख्य और जैन-दर्शन में अन्तर यही है कि वह सांख्य की तरह इस बात को नहीं मानता कि कर्म की कर्त्ता प्रकृति है। प्रकृति ही कर्म का बन्ध करती है, और वही उससे मुक्त होती है। प्रकृति जड़ है, जब उसमें चेतना है ही नहीं, तब उसमें बन्ध के परिणाम आ कैसे सकते हैं? पुरुष (आत्मा) के परिणामों के बिना बन्ध होगा कैसे? भले ही वे परिणाम अशुद्ध हों, वैभाविक हों, राग-द्वेषात्मक हों, होंगे पुरुष के ही, आत्मा के ही, जीव के ही। जड़ भावशून्य है, परिणामों से रहित है। इसलिए जैन-दर्शन एवं जैन-आगम-वाङ्मय इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि बन्ध का कर्त्ता प्रकृति है और वही उससे मुक्त होती है। पुरुष प्रकृति को अपना समझता है, इसलिए वह प्रकृति द्वारा कृतकर्म का फल भोगता है, संसार में परिभ्रमण करता है। यह कैसे संभव हो सकता है कि कर्म करे प्रकृति और उसका फल भोगना पड़े पुरुष को? इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने भगवती सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा कि आत्मा अपने कृतकर्म के फल को ही भोगता है, पर-कृत कर्म के फल को नहीं। इसलिए वह केवल भोक्ता ही नहीं, कर्म का कर्त्ता भी है और अपने द्वारा आवद्ध कर्म-बन्धन से मुक्त भी वह स्वयं ही होता है। बन्ध और मुक्ति—दोनों उसके परिणामों में निहित हैं विभाव-परिणति बन्ध का कारण है, तो स्वभाव-परिणति मुक्ति का, परन्तु दोनों परिणाम (स्वभाव और विभाव) उसके अपने हैं, वे न प्रकृति के हैं, न पुद्गलों के हैं, न योगों के और न जड़ के हैं। इसलिए प्रकृति अथवा योगों में होने वाले स्पन्दन या क्रिया के द्वारा बन्ध होता है अथवा '**क्रियाएँ बन्ध**' ऐसा न कहकर, यह कहा—'**परिणामे बन्ध**' अथवा बन्ध परिणामों से होता है।

ज्ञान और क्रिया

वेदान्त के व्याख्याकार, ब्रह्म-सूत्र के भाष्यकार एवं अद्वैतवाद के संस्थापक आचार्य शंकर की मान्यता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, नानात्व से परिपूर्ण यह जगत् मिथ्या है, भ्रम है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है—'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।**' अनेक पदार्थों से भरा हुआ, जो जगत प्रत्यक्ष में दिखाई देता है, वह भ्रम है, इसलिए असत्य है। जैसे रज्जू में सर्प की भ्रान्ति होती है और हम उसे सर्प समझ बैठते हैं। परन्तु जब यह भ्रान्ति दूर होती है, तब हम उसे सर्प नहीं, रज्जू (रस्सी) ही समझते हैं। आचार्य शंकर के मत से सर्प-रज्जू भ्रम की पहेली ही विश्व या जगत् पहेली का रहस्य है। इस भ्रान्ति एवं माया का नाश होने पर जगत् सत्य नहीं, मिथ्या प्रतीत होता है। माया अनादि और भावात्मक है, फिर भी ज्ञान के द्वारा समाप्त होने योग्य है। वास्तव में वह भावात्मक नहीं है, उसे भावात्मक केवल इसलिए कहते हैं कि वह अभावात्मक नहीं है। वह न भावात्मक है और न अभावात्मक, बल्कि दोनों से भिन्न एक तीसरी वस्तु है।[४] आचार्य शंकर का कहना है—'बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है, और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। जब यह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है, तो जीव यह अनुभव

४ Studies of Vedanta, Lecture. VII.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है कि वह तो अनादिकाल से ब्रह्म ही था, मुक्त ही था। वास्तव में बन्धन मानसिक भ्रम है, सत्तागत नहीं। इसलिए बन्धन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है।[५] आचार्य शंकर का कहना है कि जिस प्रकार रज्जू-सर्प भ्रम को केवल ज्ञान द्वारा ही दूर किया जा सकता है, कर्म अथवा क्रिया इस भ्रम को दूर करने में जरा भी सहायक नहीं होती, उसी प्रकार मोक्ष भी—जो ब्रह्म एवं जगत् का भ्रम दूर होना है, केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है, कर्म से नहीं।[६]

जैन-दर्शन आत्मा को सत्य मानता है, परन्तु वह जगत् को मिथ्या नहीं मानता। नानात्व से परिपूर्ण यह जगत् या लोक भी सत्य है। इस लोक में आत्मा का अस्तित्व है और आत्मा के स्वरूप से सर्वथा भिन्न पुद्गल का, जड़ का अस्तित्व भी है। भले ही आत्मा एवं पुद्गल का अथवा चेतन और जड़ का, या पुरुष और प्रकृति का अथवा ब्रह्म और माया का अथवा जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध अथवा आत्मा का कर्म के साथ आबद्ध होना अज्ञान (अविद्या) के कारण हुआ है, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि जिसके बन्धन में आत्मा आबद्ध है, उसका अस्तित्व है, और मुक्त होने के बाद भले ही आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न रहे, पर जगत् में उसका अस्तित्व रहेगा ही। केवल भ्रम कहने मात्र से किसी वस्तु की सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। रज्जू में सर्प के भ्रम का तात्पर्य इतना ही है कि वह रज्जू सर्प नहीं है, परन्तु सर्प की सत्ता तो है, उसका अस्तित्व तो है। यदि उसका अस्तित्व ही नहीं होता, तो यह भ्रान्ति कैसे होती। जैसे किसी भी व्यक्ति को खर-विषाण (गधे की सींग) की भ्रान्ति नहीं होती। अस्तु यह नितान्त सत्य है कि मन, आत्मा नहीं है। शरीर भी आत्मा नहीं है, इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं। आगम की भाषा में कहूँ, तो कर्म और नोकर्म भी आत्मा नहीं है। आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण अज्ञानवश व्यक्ति उन पर-पदार्थों को अपना समझ लेता है, परन्तु सम्यक्-ज्ञान होने पर वह उन्हें अपने स्वरूप से सर्वथा भिन्न समझता है। इसी को आगम में भेद-विज्ञान कहा है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आत्मा से भिन्न ये पदार्थ अथवा अनेक जड़-पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत् या लोक सर्वथा मिथ्या है। जीव जड़ नहीं है, जैसे रज्जू सर्प नहीं है, इतना सत्य है। परन्तु सर्प सर्वथा मिथ्या है, जड़ जगत् सर्वथा मिथ्या है, उसका अस्तित्व ही नहीं है, यह अनुभूत सत्य को झुठलाना है। भ्रम या भ्रान्ति उसी वस्तु की होती है, जो उस वस्तु में नहीं है, परन्तु जिसका अस्तित्व है अवश्य, जैसे सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई सीप में रजत (चाँदी) की भ्रान्ति होती है। सीप में रजत का अस्तित्व नहीं है, यह भ्रान्ति है, परन्तु रजत का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। जड़ को जीव मानना भ्रान्ति है, अज्ञान है। जब तक यह अज्ञान (अविद्या) रहता है, तब तक आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं होता। यह जड़ शरीर, इन्द्रियाँ एवं मन जीव नहीं है, आत्मा इनसे भिन्न है, यह बोध हो जाना और पर-भाव एवं पर-स्वरूप से हटकर अपने स्वरूप को जान लेना सम्यक्-ज्ञान है। भ्रान्ति का दूर हो जाना यह बन्धन से मुक्त होने का रास्ता है। परन्तु सम्यक्-ज्ञान होने का यह अर्थ नहीं है कि जड़-पदार्थ एवं पुद्गलों का अस्तित्व ही मिट गया। उनके अस्तित्व से इन्कार करना, यही सबसे बड़ा अज्ञान है।

ज्ञान से स्वरूप का बोध होता है और साधक यह जान लेता है कि मैं कर्म और नोकर्म

---

५ ईशावास्योपनिषद्, ५ शांकरभाष्य

६ कठोपनिषद् १, २, १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप पुद्गलों से सर्वथा भिन्न हूँ, इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त हो नहीं जाएगा। जैसे व्यक्ति ने भ्रान्तिवश सीप को रजत समझ कर एकत्रित कर लिया। उसे जब यह बोध हो गया कि यह रजत नहीं, सीप है, तो उसकी भ्रान्ति दूर हो गई। हम यह कह सकते हैं कि उसे ज्ञान हो गया और ज्ञान का फल यह है कि उसका भ्रम दूर हो गया। परन्तु ज्ञान होने मात्र से वह तब तक उस संग्रहीत सीप के बोझ से मुक्त नहीं हो सकता, जब तक उन्हें अपनी जेब से निकाल कर नहीं फेंक देगा। इसी प्रकार अज्ञान, अविद्या एवं मोहवश आबद्ध कर्मों का यथार्थ बोध हो जाना एक बात है और उन आबद्ध कर्मों से मुक्त होना, उनकी निर्जरा करके उनके आवरण को हटा देना दूसरी बात है। प्रथम को आगम में सम्यक्-ज्ञान कहा है, और दूसरे को सम्यक्-चारित्र। सम्यक्ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान से साधक को यह बोध हो जाता है कि मेरा अपना स्वरूप क्या है और संसार का स्वरूप क्या है? मैं कर्म से आबद्ध क्यों हूँ? आवरण से आवृत होने का कारण क्या है? और उससे अनावृत होने का मार्ग क्या है? ज्ञान से मार्ग का बोध हो जाता है, परन्तु लक्ष्य की प्राप्ति होगी, उस मार्ग पर गति करने से। गति एक क्रिया है, इसे आगम में चारित्र एवं आचार कहा है। बन्धन से मुक्त होने के लिए मात्र ज्ञान ही नहीं, ज्ञान के साथ चारित्र का, क्रिया का, आचार का होना भी आवश्यक है। न केवल क्रिया से आत्मा बन्धन से मुक्त हो सकता है, और न मात्र ज्ञान से। इसलिए जैन-दर्शन अद्वैत-वेदान्त की इस बात को तो मानता है, कि संसार में आबद्ध रहने का कारण अविद्या (अज्ञान) है, परन्तु इसे स्वीकार नहीं करता कि उससे मुक्त होने के लिए ज्ञान का होना ही पर्याप्त है, कर्म (चारित्र) की, क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैन-दर्शन में बन्ध और मोक्ष

सात या नव तत्त्व में दो तत्त्व ही मुख्य हैं—जीव-अजीव, जड़-चेतन, आत्मा-पुद्गल, पुरुष-प्रकृति या ब्रह्म-माया। स्थानांग सूत्र में दो द्रव्य कहे हैं—'**जीव दव्वा चेव अजीव दव्वा**' अथवा जीव और अजीव द्रव्य। अजीव-द्रव्य के पाँच भेद किए गए हैं—धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य। भले ही जीव और अजीव कह दें या आत्मा और पुद्गल—इन दो की प्रमुखता है, सृष्टि की रचना में। आत्मा और पुद्गल का संयोग-सम्बन्ध संसार है और इस संयोग से मुक्त-उन्मुक्त हो जाना मोक्ष है। जब आत्मा स्व-भाव को छोड़कर विभाव में परिणमन करता है, राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवहमान रहता है, कषायों के रंग से अनुरंजित रहता है, तब वह कर्म से आबद्ध होता है, और कर्म से आबद्ध होने के कारण ही संसार में परिभ्रमण करता है। जब आत्मा को स्वरूप का बोध हो जाता है और भेद-विज्ञान द्वारा परिज्ञात स्व-स्वरूप में स्थित होता है, तब वह नये कर्म का बन्ध नहीं करता, प्रत्युत आबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है, उनसे मुक्त होता है। राग-भाव से हटकर वीतराग-भाव में आना कर्म-बन्धन से मुक्त होना है।

बन्धन कब से?

भारत के सभी आस्तिक-दर्शन इस बात को मानते हैं कि आत्मा की आदि नहीं है, वह अनादि है। और सांख्य, योग, न्याय-वैशेषिक, अद्वैत-वेदान्त—सभी आस्तिक-दर्शन इस तथ्य को भी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि संसार से मुक्त होने के बाद आत्मा पुनः संसार में जन्म नहीं लेता। पुनर्जन्म-मरण बद्ध-आत्मा का होता है, मुक्त का नहीं। संसार-परिभ्रमण का कारण पुरुष-प्रकृति के संयोग को मानें या ब्रह्म और माया के संयोग को, वह ठीक जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार अनादि काल से है। आचार्य शंकर की मान्यता के अनुसार, 'अविद्या एवं भ्रम का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाश होते ही आत्मा को अपने ब्रह्म-स्वरूप का बोध हो जाता है और वह यह जान लेता है कि भ्रम या अविद्या के कारण मैं अनादि काल से माया के साथ रहा, परन्तु वास्तव में मैं तो अनादि-काल से ब्रह्म ही था।' सांख्य की भाषा में पुरुष-प्रकृति का भेद-ज्ञान नहीं होने से पुरुष अनादिकाल से संसार में आबद्ध रहा। जैन आगम एवं जैन-दर्शन भी इसी बात को मानते हैं कि जीव भी अनादि से है और पुद्गल भी अनादि से है। आत्मा को अपने स्वरूप का परिज्ञान न होने के कारण अज्ञान एवं मोहवश वह कर्म-पुद्गलों से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करता रहा। जब वह अज्ञान या मिथ्यात्व के आवरण को हटा देता है, मिथ्यात्व-ग्रन्थि (गांठ) का भेदन करके सम्यक्त्व को, सम्यक्-ज्ञान को अनावृत कर लेता है, तब उसे अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। इससे वह यह जान लेता है, कि मैं शरीर, इन्द्रिय, मन एवं कर्म आदि सभी पौद्गलिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं अथवा आत्मा स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी कर्म से आबद्ध क्यों है, कर्म-बन्ध का कारण क्या है और उससे मुक्त होने का साधन क्या है, इसका परिज्ञान हो जाता है और एक दिन वह समस्त कर्म-बन्धन एवं कर्मजन्य साधनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तकाल से अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान इस धारा का आदिकाल किसी भी दार्शनिक को ज्ञात नहीं है। जो वस्तु अनन्त काल से है, उसकी आदि हो ही नहीं सकती। आदि सान्त की होती है, अनन्त की नहीं। इसलिए संसारी आत्मा अनादि से कर्म-पुद्गलों से आबद्ध है।

अनादि-संयोग का अन्त कैसे ?

आत्मा और पुद्गल (कर्म) का संयोग अनादि से है, फिर वह अनन्त तक रहेगा ? जो वस्तु अनन्तकाल से है, जिसका आदिकाल है ही नहीं, उस अनन्त का अन्त भी नहीं होगा। अन्त उसी वस्तु का होता है, जिस वस्तु का आदिकाल निश्चित है। यदि संसारी-आत्मा अनादिकाल से कर्म से आबद्ध है, तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकती ?

इसका समाधान श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार किया कि आत्मा और पुद्गल—दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। दोनों अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। ऐसा कोई भी क्षण नहीं रहा कि आत्मा का अस्तित्व न रहा हो, नहीं है और नहीं रहेगा। यही बात पुद्गल के सम्बन्ध में है। आत्मा और कर्म-पुद्गल का संयोग सम्बन्ध होने पर भी दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। आत्मा से सम्बद्ध रहने पर भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक भी प्रदेश पुद्गल रूप में परिणत नहीं होता और पुद्गलों का एक भी परमाणु चेतन रूप में परिणत नहीं होता। दोनों के साथ रहने पर भी आत्मा की परिणति चेतन रूप में होती है, और पुद्गल की परिणति पुद्गल (जड़) रूप में होती है। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध दिखाई देने पर भी एक-दूसरे के रूप में समाहित नहीं होते। जैसे लोहे के गोले को आग में डालने पर अग्नि के परमाणु उसमें इतने एकाकार परि-लक्षित होते हैं कि वह लोहे का नहीं, आग का गोला-सा दिखाई पड़ता है। परन्तु लोहे के परमाणु अलग हैं और अग्नि के संयोग से आये हुए आग के परमाणु उससे अलग हैं। दोनों परमाणु पुद्गल हैं, फिर भी उस गोले को आग से बाहर निकालकर कुछ देर पड़ा रहने दें, तो ठण्डा होने पर आप देखेंगे कि आग के परमाणु शान्त हो जाते हैं, और वह लोहे का गोला ही रह जाता है। जैसे अग्नि के परमाणु लोहे से भिन्न हैं, इसी प्रकार पुद्गल के संयोग से आत्मा और पुद्गलों से निर्मित शरीर एक दिखाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के स्वरूप एवं स्वभाव से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों में होने वाली परिणति भी पृथक्-पृथक् होती है। इसलिए उनका पृथक् होना सम्भव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म का बन्ध वैभाविक परिणति (राग-द्वेष) से होता है, और जब तक आत्मा में मोह-कर्म का उदय-भाव रहता है, तब तक प्रति समय कर्म का बन्ध होता रहता है। आत्मा पूर्व में आबद्ध कर्म के विपाक का प्रति समय वेदन करता है, और वह कर्म अपना फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाता है और नये कर्मों का बन्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रवाह की दृष्टि से कर्म का प्रवाह अनादि से चला आ रहा है। हम यह नहीं कह सकते कि यह कर्म-प्रवाह आत्मा के साथ कब से आ रहा है। वैभाविक परिणति से कर्म बँधते हैं और कर्म के कारण मोह, राग-द्वेष आदि विभाव जागृत होते हैं। जैसे अण्डे से मुर्गी निकलती है, और मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि अण्डा पहले अस्तित्व में आया या मुर्गी। दोनों का यह पारस्परिक सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का प्रवाह रूप से संयोग सम्बन्ध अनादि काल से है, परन्तु एक ही कर्म अनादि काल से नहीं है। प्रतिक्षण बँधने वाले कर्म की आदि है और उसका बन्ध कितने समय का है अथवा वह कितने काल तक सत्ता में रहेगा, उसकी स्थिति का बन्ध भी उसके रस के बन्ध के साथ हो जाता है और वह कब उदय में आकर फल देगा, यह भी स्थिति के अनुरूप निश्चित हो जाता है, इसलिए प्रतिक्षण बँधने वाले कर्म की आदि भी है और उसका अन्त भी है। इसी कारण जैन-दर्शन इस बात को मानता है कि आबद्ध कर्म को तोड़ा भी जा सकता है। आत्मा राग-द्वेषमय विभाव-धारा में बहता है, तब कर्म बाँधता है, और राग-द्वेष का क्षय करके वीतरागभाव अथवा स्वभाव में परिणत होता है, तब वह उससे मुक्त हो सकता है।

अस्तु, कर्म-प्रवाह की भले ही आदि न हो, परन्तु समय-समय पर बँधने वाले कर्मों की आदि है, इसलिए आत्मा उनसे मुक्त भी हो सकता है। प्रतिक्षण आत्मा पुराने कर्मों से छुटकारा पाता भी है—भले ही उसी क्षण नये कर्मों को बाँध ले, इससे यह कहना नितान्त गलत है कि वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। भले ही कर्म-बन्ध अनादि से है, परन्तु संवर और निर्जरा की अथवा वीतराग-भाव की साधना से उनका अन्त किया जा सकता है।

बन्ध के कारण

आगम-वाङ्मय में कर्म-बन्ध का मूल कारण राग-द्वेष को माना है। योग—मन, वचन और काय-योग में जब स्पन्दन होता है, क्रिया होती है, गति होती है, तब कार्मण-वर्गणा के पुद्गल आते हैं। कर्म के आने के द्वार को आस्रव कहा है। इसलिए शुभ-योग अथवा शुभ-प्रवृत्ति और अशुभ-योग अथवा अशुभ-प्रवृति दोनों कर्म के आगमन का द्वार हैं। इससे कर्म आते अवश्य हैं, परन्तु केवल योगों की प्रवृत्ति से उनका आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध नहीं होता। आगमों में प्रकृति-बन्ध, प्रदेश-बन्ध, अनुभाग (रस) बन्ध और स्थिति-बन्ध यह चार प्रकार का बन्ध बताया है। आस्रव से आने वाले कर्म ज्ञानावरण आदि किस प्रकृति (स्वभाव) के हैं और उनके अनन्त परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध कितने प्रदेश के हैं—यह दो प्रकार का बन्ध योगों में होने वाले स्पन्दन एवं प्रवृत्ति से होता है। परन्तु वे शुभ या अशुभ, तीव्र या मन्द किस तरह के रस के हैं और कितने काल तक आत्म-प्रदेशों को आवृत कर रहने वाले हैं, यह बन्ध प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेषात्मक परिणामों से होता है और इसी को आगम में बन्ध कहा है। इस दृष्टि से आगम में राग-द्वेष अथवा कषाय और योग को बन्ध का हेतु कहा है। इसी का विस्तृत रूप है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच भेद। राग-द्वेष या कषाय मिथ्यात्व गुणस्थान (प्रथम गुणस्थान) से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान (दसवें गुणस्थान) तक रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में राग (माया-लोभ) और द्वेष (क्रोध-मान) तीव्रतम रहता है। अव्रत एवं देश-व्रत सम्यक्दृष्टि में तीव्र कषाय रहता है। प्रमत्त-संयत में मन्द कषाय रहता है, अप्रमत्त में मन्दतर और आठवें से दसवें तक मन्दतम कषाय रहता है। एकादश गुणस्थान में कषाय पूर्णतः उपशान्त रहता है, उसका नाश नहीं होता, इसी कारण इस गुणस्थान को स्पर्श करने वाला साधक अवश्य ही नीचे गिरता है। परन्तु अष्टम गुणस्थान से कषायों का क्षय करते हुए क्षपक श्रेणी से गुणस्थानों का आरोहण करने वाला साधक दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान को स्पर्श करके त्रयोदश गुणस्थान में पूर्णतः वीतराग-भाव में स्थित हो जाता है। अतः द्वादश एवं त्रयोदश दोनों गुणस्थानों में केवल योग रहता है, इसलिए योगों की प्रवृत्ति से केवल कर्म आते हैं और तत्क्षण झड़ जाते हैं, कषाय अथवा राग-द्वेष का अभाव होने से उनका बन्ध नहीं होता, प्रत्युत पूर्व आबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। और चतुर्दश गुणस्थान में योग का भी निरोध करके साधक अयोग अवस्था को प्राप्त होकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है, इसलिए इस गुणस्थान में कर्म का आगमन भी नहीं होता।

निष्कर्ष यह रहा कि बन्ध का कारण राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणाम हैं। जब तक योगों का अस्तित्व है, तब तक प्रवृत्ति तो होगी ही। प्रवृत्ति योगों का स्वभाव है। वह कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करती है, परन्तु उनका आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध होता है कषाय-भाव से ही। अतः राग-भाव, कषाय-भाव बन्ध का कारण है, और वीतराग-भाव संसार-चक्र से, कर्म-बन्ध से मुक्त होने के कारण है। इसलिए संसार एवं बन्ध का अर्थ है—कषाय-भाव या राग-भाव में परिणत होना और मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है—वीतराग-भाव में स्थित रहना, उसी में परिणत होना।

बन्ध एवं अबन्ध की इस प्रक्रिया को आगम एवं विशेषावश्यकभाष्य में एक रूपक के द्वारा समझाया गया है—एक व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर खड़ा होता या लेट जाता है, तो हवा के झोंके के साथ आने वाली मिट्टी उसके शरीर पर चिपक जाती है और दूसरा व्यक्ति बिना तेल लगाये खुले आकाश में खड़ा होता है, उसके शरीर पर हवा के झोंके से मिट्टी लगती तो है, परन्तु चिपकती नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में एक रूपक और दिया गया है—एक व्यक्ति मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा, दीवार पर फेंकता है, तो गीला गोला दीवार पर चिपक जाता है और सूखा गोला दीवार को स्पर्श तो करता है, परन्तु उस पर चिपकता नहीं है। एक उदाहरण और दिया जा सकता है—एक ईंट रखने के बाद उस पर दूसरी ईंट रखने के पूर्व प्रथम ईंट पर सीमेन्ट, चूना या गारा लगा दिया जाता है, तो वे ईंटें एक-दूसरी से भली-भाँति आबद्ध होकर दीवार का आकार ले लेती हैं, भव्य-भवन के रूप में साकार रूप ले लेती हैं। परन्तु यदि उनके मध्य में सीमेन्ट, चूना या गारा न लगाया जाए, तो वे ईंटें परस्पर आबद्ध होकर दीवार या भवन का रूप नहीं ले सकतीं। एक ही झटके में गिर सकती हैं या गिरायी जा सकती हैं।

यही स्थिति कर्म-बन्ध की है। जिस व्यक्ति के परिणामों में राग-द्वेष एवं कषाय-भाव की स्निग्धता (चिकनाहट) है, वही कर्म-रज से आबद्ध होता है। अलग-थलग रही हुई दो ईंटों को परस्पर आबद्ध करने की क्षमता सीमेण्ट की चिकनाहट में ही है। यदि साधक के परिणामों में कषायों का चिकनापन न हो तो कोई कारण नहीं कि कर्म उसे बाँध ले। मिट्टी का गीला गोला ही दीवार पर चिपकता है। कषाय-भाव एवं राग-भाव के गीलेपन से रहित वीतराग-भाव में स्थित साधक कदापि कर्म से आबद्ध नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जैन-धर्म का कर्म-सिद्धान्त वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया गया विश्लेषण है। व्यक्ति का निर्माता उसका कार्य नहीं, उसके परिणाम हैं, विचार हैं, चिन्तन है। व्यक्ति जैसा बना है, जिस रूप में बन रहा है और भविष्य में जिस रूप का बनेगा, वह परिणाम के साँचे में ही ढल कर बना है और बनेगा। अपने परिणामों से ही वह बँधा है, और अपने परिणामों से ही मुक्त होगा। परिणामों की, भावों की, विचारों की राग-द्वेष युक्त अशुद्ध पर्याय अथवा आध्यात्मिक भाषा में कहूँ तो विभाव-पर्याय बन्ध का कारण है और राग-द्वेष से रहित वीतराग-भाव की शुद्ध-विशुद्ध एवं परम-शुद्ध पर्याय मुक्ति का कारण है। यदि एक शब्द में कहूँ तो **'राग-भाव संसार है, और वीतराग-भाव मोक्ष है।'** अस्तु मन (परिणाम) ही बन्ध का कारण है और मन ही मुक्ति का हेतु है—

'मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध-मोक्षयोः'

संवर और निर्जरा

कर्म के आने का द्वार आस्रव है। जब तक आस्रव का द्वार खुला रहेगा, तब तक कर्म-प्रवाह भी आता रहेगा। व्यक्ति पूर्व के आबद्ध कर्मों का विपाक भोगकर उसे आत्म-प्रदेशों से अलग करने के साथ नये कर्मों को बाँध लेता है। इसलिए बन्ध से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम आस्रव के द्वार को रोकना आवश्यक है। इस साधना को संवर कहा है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच आस्रव हैं, इसके विपरीत सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुद्धोपयोग संवर है। स्व-स्वरूप का बोधरूप सम्यक्-ज्ञान और उस पर श्रद्धा एवं निष्ठा होना सम्यक्-दर्शन है, इसे सम्यक्त्व भी कहते हैं। व्रत का अर्थ है—स्व-स्वरूप से भिन्न पर-पदार्थों में आसक्त नहीं रहना, केवल पदार्थों का नहीं, परन्तु अज्ञानवश उस पर रहे हुए ममत्व का त्याग करना, पर-पदार्थों की तृष्णा एवं आकांक्षा का परित्याग करना। अपने स्वरूप में जागृत रहकर विवेकपूर्वक गति करना अप्रमाद है और क्रोध, मान, माया और लोभ का प्रसंग उपस्थित होने पर भी इस वैभाविक परिणति में नहीं बहना अथवा कषायों को उदित नहीं होने देना अकषाय-भाव है। शुद्धोपयोग का अर्थ है—राग-द्वेष एवं शुभ और अशुभ भावों से ऊपर उठकर अपने स्वभाव अथवा वीतराग-भाव में परिणत रहना। इस प्रकार साधक जब अपने विशुद्ध स्वरूप को अनावृत करने के लिए संवर की साधना में स्थित होता है, तब वह नये कर्मों का बन्ध नहीं करता। आस्रव के द्वार को संवर द्वारा रोक देने का तात्पर्य है—कर्म-बन्ध की परम्परा को रोक देना।

संवर की साधना से साधक कर्म-प्रवाह को अवरुद्ध करता है, और फिर निर्जरा की साधना से पूर्वआबद्ध कर्मों का क्षय करता है। आगम में निर्जरा के लिए तप-साधना को महत्वपूर्ण बताया है। जिस प्रकार स्वर्ण पर लगे हुए मल को दूर करने के लिए उसे अग्नि में डालकर, तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि के द्वारा साधक कर्म-मल को जलाकर नष्ट कर देता है। आगम में तप दो प्रकार का बताया गया है—बाह्य-तप और आभ्यन्तर-तप। अनशन, ओणोदर्य, रस-परित्याग, भिक्षाचरी, परिसंलीनता और काया-क्लेश—ये छह प्रकार के बाह्य-तप हैं। विनय, वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर-तप हैं। तप-साधना से पूर्व-आबद्ध कर्मों का क्षय होता है। तप-साधना निर्जरा का एक साधन है। मुख्यता है, उसमें स्व-स्वरूप में रमणरूप परिणामों की, पदार्थों के प्रति रही हुई आसक्ति एवं व्यामोह के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागमय भावना की। इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने तप की परिभाषा करते हुए कहा है—इच्छा (आकांक्षा एवं तृष्णा) का निरोध करना, उनका क्षय करना ही तप है—

'इच्छा निरोधो तपः।'

पदार्थों के प्रति मन में जो राग-भाव है, उसी से इच्छा एवं तृष्णा का भाव जागृत होता है, अनुकूल प्रतीत होने वाले पदार्थों को प्राप्त करने की एवं अप्राप्त भोगों को तथा भोग्य पदार्थों को भोगने की कामना उद्बुद्ध होती है। यह रागमय मनोवृत्ति ही बन्ध का कारण है। इसलिए इस इच्छा एवं आकांक्षा की मनोवृत्ति को रोकना, उसका निरोध करना तप है। तप का अर्थ है—तपाना, परन्तु मात्र शरीर एवं इन्द्रियों को नहीं, मनोविकारों को, भोगेच्छा को, वासना को तपाना है। जिस साधना के द्वारा इच्छा, तृष्णा, वासना एवं कामना नष्ट होती है और साधक निष्काम-भाव से साधना में संलग्न होता है, स्व-स्वरूप में परिणमन करता है, वह तप है, और वह निर्जरा का कारण है। इस साधना से एक भव के एवं वर्तमान भव के ही नहीं, पूर्व के अनेक भवों में आबद्ध कर्मों का भी एक क्षण में नाश हो जाता है। इसके लिए यह रूपक दिया गया है कि हजारों मन घास का ढेर एक प्रज्वलित चिनगारी के डालते ही जिस प्रकार कुछ ही क्षणों में जलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञानपूर्वक की गई तप-साधना से करोड़ों भवों के आबद्ध कर्मों को क्षय होते देर नहीं लगती।

बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को आगम-साहित्य में सरोवर के रूपक द्वारा समझाया है—तालाब में नालों के द्वारा वर्षा का पानी आता है, और वह उसमें संग्रहीत हो जाता है। पहले आया हुआ पानी काम में आता रहता है, और नया पानी पुनः आकर उस सरोवर को भरा हुआ रखता है। यदि उसके नालों को बन्द कर दिया जाए, तो नया पानी उसमें आएगा नहीं, और पहले का आया हुआ पानी काम में लेने से खाली हो जाएगा या खाली कर दिया जाए तो सरोवर सूख जाएगा। इस प्रकार आस्रव कर्म रूप पानी के आने का नाला है और उससे आगत कर्मों का बन्ध के द्वारा आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध होता है। संवर कर्म आने के स्रोत को रोकने की साधना है, जिससे नये कर्मों का बन्ध रुक जाएगा और पूर्व के आबद्ध कर्मों की तप-साधना से निर्जरा करके साधक कर्म-बन्धन से पूर्ण मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार आस्रव और बन्ध ये दो तत्त्व संसार परि-भ्रमण के कारण हैं, और संवर एवं निर्जरा ये दो तत्त्व मुक्ति के कारण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org